# भारतीय ज्ञान परंपरा में शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार

सम्पादक :
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

# भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

**Ph.D., D.Lit. (Sub.)**

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

**छवि पब्लिकेशन्स**

अजमेर-305001

प्रकाशक :
**छवि पब्लिकेशन्स**
अजमेर-305001
मो. 9660111549

संस्करण :
प्रथम 2024

*ISBN* : 978 - 81 - 89435 - 66 - 0

मूल्य - 300/-

रचना - भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

# संस्कृति दर्शन : शिक्षा एवं भाषा के संदर्भ में

**कमलेश कुमार अटल**
**सहायक आचार्य ( शिक्षा विभाग )**
**हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर**

भारतीय संस्कृति व्यक्ति और समाज के बीच का वह सूक्ष्म और व्यापक सेतु है, जो जीवन मूल्यों, आचार-व्यवहार, नैतिकता और आध्यात्मिकता का निरंतर संवहन करता है। संस्कृति व्यक्ति को न केवल समाज के निर्धारित मूल्यों के अनुरूप ढालती है, बल्कि उसे सतत सुधार, आत्मविकास और सामाजिक उत्तरदायित्व के लिए प्रेरित भी करती है। इस दृष्टि में शिक्षा और भाषा दो अत्यंत प्रभावशाली साधन हैं। भाषा मात्र संवाद का माध्यम नहीं है; यह संस्कार, ज्ञान, दर्शन और जीवन मूल्य का वाहक है।

भारतीय संस्कृति व्यक्तित्व निर्माण, नैतिक विकास और समाजोपयोगी आचरण का माध्यम है। इसे भारतीय परंपरा में द्वितीय जन्म कहा गया है। यह विचार विशेष रूप से वर्ण व्यवस्था और 16 संस्कारों के माध्यम से स्पष्ट होता है। प्रथम जन्म जैविक जन्म है, जो माता के गर्भ से होता है। द्वितीय जन्म गुरु के आश्रम या विद्यालय में शिक्षा प्राप्ति के बाद होता है। यह आध्यात्मिक, बौद्धिक और नैतिक जागृति का जन्म है। शतपथ ब्राह्मण में द्वितीय जन्म की महत्ता का वर्णन है। शिक्षा प्राप्ति उपरांत जीवन पहले जन्म की अपेक्षा अधिक मूल्यवान और गौरवपूर्ण माना गया। उपनयन और दीक्षा संस्कार पूर्व का जन्म केवल भौतिक होता है; ज्ञान के साथ प्राप्त दूसरा जन्म व्यक्ति को जीवन के सत्य, धर्म और नैतिक कर्तव्यों के प्रति संवेदनशील बनाता है।

भारतीय संस्कृति में शिक्षा सैद्धांतिक ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक जीवन में धर्म, आचार और सामाजिक कर्तव्यों के पालन से जोड़ा गया है। भारद्वाज ग्रहसूत्र में वर्णित है कि समावर्तन संस्कार से पूर्व ब्रह्मचारी को प्रात:काल एक कमरे में रखा जाता था ताकि उसकी ज्योति सूर्य की ज्योति से प्रभावित न हो। मनुस्मृति में कहा गया कि शिक्षार्थी के मार्ग से राजा भी हट जाता है। यह शिक्षा की उच्चतम प्राथमिकता को दर्शाता है। 16 संस्कारों का उद्देश्य व्यक्तित्व, नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व का विकास है। प्रत्येक संस्कार व्यक्ति को जीवन के विभिन्न पहलुओं में धार्मिक और सामाजिक अनुशासन का पालन करना सिखाता है।

भारतीय संस्कृति में भाषा के साथ संस्कार, ज्ञान और जीवन मूल्यों का वाहक है। प्राचीन ग्रंथ, श्लोक और अभिलेख शिक्षा और संस्कारों का प्रमुख आधार रहे हैं। भाषा के माध्यम से नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य पीढ़ी दर पीढ़ी संचारित होते रहे। समाज में सामाजिक और धार्मिक अनुशासन का पालन सुनिश्चित हुआ। व्यक्ति का बौद्धिक, आध्यात्मिक और सामाजिक विकास हुआ।

संस्कृति दर्शन, शिक्षा और भाषा के माध्यम से व्यक्ति को समाजोपयोगी और आत्मसिद्धि की ओर प्रेरित करता है। यह शिक्षा व्यक्ति के नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक विकास के लिए मार्गदर्शक है। शिक्षा और संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति में धार्मिक और सामाजिक उत्तरदायित्व का बोध, नैतिकता और न्याय की समझ, सृजनशीलता और बौद्धिक स्वतंत्रता, तथा आध्यात्मिक जागरूकता और आत्मविकास का विकास होता है।

संक्षेप में कहा जाए तो मानव का वास्तविक जीवन शिक्षा और संस्कृति से निर्मित होता है। प्रथम जन्म प्रकृति से होता है, किंतु दूसरा जन्म संस्कृति से, जो उसे अन्य जीवों से भिन्न बनाता है। यही शिक्षा गुरुकुल अथवा आचार्यकुल में प्रवेश के साथ आरंभ होती है और व्यक्ति के भावों, विचारों तथा कर्मों को उस समाज और काल के अनुरूप ढालती है।

संस्कृति दर्शन की दृष्टि से शिक्षा ज्ञानार्जन के साथ ही स्थापत्य, साहित्य, कला और जीवन मूल्यों से प्रभावित होकर व्यक्ति को संस्कृतिनिष्ठ बनाती है। शिक्षा वस्तुतः सांस्कृतिक विरासत का नियंत्रित और चयनात्मक सम्प्रेषण है, जिसके द्वारा समाज अपने आदर्शों को अगली पीढ़ी तक पहुँचाता है।

उपनिषदों ने चेताया है कि अविद्या की उपासना और अंधी विद्या दोनों ही अंधकार की ओर ले जाती हैं। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य केवल विद्या-संचय न होकर विवेकपूर्ण और श्रृद्धापूर्ण दृष्टि का विकास होना चाहिए। यही दृष्टि संस्कृति दर्शन का मूल मंत्र है, जो ज्ञान को कर्म से जोड़कर जीवन को सार्थक बनाती है और शिक्षा को समाज के लिए प्रासंगिक तथा अपरिहार्य सिद्ध करती है।

भारतीय संदर्भ में शिक्षा और संस्कृति का संबंध अत्यंत गहरा और अविभाज्य माना गया है। यह कहा गया है कि केवल श्रद्धावान ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है, अतः शिक्षा संस्कृति के बिना निर्जीव है और संस्कृति शिक्षा के बिना अधूरी। संस्कृति समाज की धुरी है, जो उसे गति और दिशा देती है, जबकि शिक्षा उसका उपकरण है, जिसके माध्यम से संस्कार पीढ़ी-दर-पीढ़ी संप्रेषित होते हैं। इसीलिए शिक्षा का वास्तविक कार्य ज्ञानार्जन के साथ संस्कार प्रदान करना है, जिससे संस्कृति का निर्माण और उसका पोषण होता है।

अज्ञेय ने समाज और संस्कृति के संबंध को अत्यंत सुंदर रूपक में समझाया है। उन्होंने कहा कि समाज एक विशाल भूखंड है और व्यक्तित्व उसकी छोटी-छोटी इकाइयाँ हैं, जिन्हें संस्कृति रूपी नदी जोड़ती भी है और अलग भी बनाए रखती है। यह संस्कृति ही है, जो समाज की प्रत्येक इकाई को एक विशिष्ट और अद्वितीय स्वरूप प्रदान करती है।

भारतीय दृष्टिकोण से शिक्षा के संस्कृतिनिष्ठ स्वरूप पर आनंद कुमार स्वामी ने भी बल दिया था। उन्होंने कहा कि भारतीय जब विदेश जाते हैं, तो वे अपने साथ वस्तुओं के साथ-साथ भारतीय शिक्षा, संस्कृति और आचरण शैली भी लेकर जाते हैं। किंतु दुर्भाग्य यह है कि विदेश जाकर वे अक्सर अपनी जड़ों से कट जाते हैं और भारतीय परिवेश से विमुख होकर उसकी आलोचना करने लगते हैं। यह प्रवृत्ति किसी भी राष्ट्र और उसकी संस्कृति के लिए घातक सिद्ध होती है। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य सार्वभौम मूल्यों की प्रतिष्ठा और विकास है। यही वह दृष्टिकोण है जिसने भारतीय संस्कृति को प्रगतिशील, जीवंत और गतिशील बनाए रखा। इसी शिक्षा-संस्कृति के संगम ने हमें संतों, मनीषियों, सुधारकों और क्रांति प्रेरकों की वह गौरवशाली परंपरा दी है, जिन पर आज भी भारत गर्व करता है।

भारतीय संस्कृति को एक अविरल स्रोतस्विनी नदी की भाँति समझा गया है, जिसकी धारा कभी रुकती नहीं, बल्कि निरंतर प्रवाहित होकर समाज को अपने अमूल्य आयामों से मण्डित करती रहती है। शिक्षा इस धारा को रूपायित करने का कार्य करती है। यहाँ शिक्षा का उद्देश्य मात्र साक्षरता नहीं, बल्कि सत्यनिष्ठ शैक्षिक आचरण और जीवनमूल्यों की स्थापना है। भारतीय परंपरा में शिक्षा का लक्ष्य सदैव संस्कारवान और कर्तव्यपरायण मनुष्य का निर्माण रहा है, क्योंकि यही संस्कृति दशज़्न की वास्तविक सार्थकता है।

विद्या और कर्म का सामंजस्य भारतीय समाज की मूल प्रवृत्ति रहा है। लिंग युतांग का विचार इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है कि जीवन का सही दृष्टिकोण तथ्यों पर नहीं, बल्कि मूल्यों पर आधारित होता है। यदि शिक्षा में मूल्य न हों तो वह संस्कृति दर्शन का निर्माण नहीं कर सकती। भारतीय दृष्टि में ज्ञान केवल बुद्धि की तीक्ष्णता या विवाद की शक्ति नहीं है, बल्कि अनुभवजन्य सत्य है, जो आचरण और कर्म से जुड़कर ही फलित होता है।

संस्कृति का आधार ही ज्ञान और कर्म का मिलन है। शिक्षा इसी आधार को पुष्ट करती है और व्यक्ति को संस्कार, मूल्य और आचरण की कसौटी पर गढ़ती है। भारतीय मन का मूल स्वर आध्यात्मिक, आत्मनिष्ठ और सृजनात्मक रहा है, जिसने दर्शन, धर्म, कला और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सृजनात्मक उर्जा प्रदान की है। डॉ.

राधाकृष्णन ने स्पष्ट कहा है कि शिक्षा भारतीय संस्कृति के संदर्भ में सर्वोच्च संस्कार है। उनके अनुसार व्यक्ति और समाज के कर्म-पहलू अविभाज्य और परस्पर गुंथे हुए हैं। ज्ञान का अर्थ केवल तार्किक या द्वंद्वात्मक शक्ति नहीं, बल्कि साक्षात् अनुभव है, जो जीवन के हर स्तर पर मार्गदर्शक बनता है।

इस प्रकार संस्कृति समग्र समाज की समग्र दृष्टि और उसकी सृजनात्मक प्रतिभा है, जो व्यक्ति के माध्यम से कार्यक्षम और क्रियाशील होती है। शिक्षा इसी संस्कृति का यथार्थ संप्रेषण है, जो व्यक्ति की चेतना में रच-बसकर उसे संस्कृतिनिष्ठ बनाती है। मूल्य दृष्टि पर भारतीय परंपरा का विशेष बल इसी कारण है कि वह सृष्टि की समग्रता को लक्ष्य बनाकर समाज और व्यक्ति दोनों को निरंतर उन्नति की ओर अग्रसर करती है।

भारतीय चिंतन का मूल आधार शिक्षा और समग्रता की खोज है। यहाँ की संस्कृति का उद्देश्य ब्रह्मवर्चस्व की प्राप्ति और विश्व बन्धुत्व की भावना का विस्तार करना रहा है। शिक्षा के माध्यम से मनुष्य में उदात्त मूल्यों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति विकसित होती है। इसी कारण कहा गया है कि शिक्षाविहीन व्यक्ति पशु के समान है, क्योंकि शिक्षा ही मनुष्य को संस्कृतिनिष्ठ बनाती है।

भारतीय संस्कृति-दर्शन में शिक्षा की अवधि उपनयन संस्कार से लेकर समावर्तन संस्कार तक मानी गई है। गुरुकुल परंपरा के अनुसार छात्र 25 वर्ष की आयु तक गुरु के आश्रम में रहकर कठोर साधना, श्रम और तपस्या द्वारा शिक्षा ग्रहण करता था। स्नातक के पश्चात् उसका मुखमंडल उसी प्रकार तेजस्वी हो जाता था जैसे अग्नि में ईंधन डालने से उसका प्रकाश बढ़ जाता है। शिक्षा का ध्येय केवल लौकिक विद्या नहीं था, बल्कि व्यावहारिक जीवन के माध्यम से परम तत्व की खोज और आध्यात्मिक साक्षात्कार था।

डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार ने कहा है कि बालक के विकास के लिए केवल माता-पिता का प्रभाव पर्याप्त नहीं, उसे आचार्य के मार्गदर्शन में रहकर शील, श्रद्धा, धर्म, यम और नियम के द्वारा शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। यही तत्व संस्कृति के लिए अनिवार्य हैं। श्रम और तपस्या को शिक्षा के दो आधार माना गया, क्योंकि इन्हीं के द्वारा व्यक्ति जीवन के विविध कर्तव्यों का सफल निर्वाह कर सकता है।

श्री अरविन्द ने भारतीय शिक्षा की विशेषता को रेखांकित करते हुए कहा कि इसकी आधारशिला ऐसे तत्वों पर रखी गई थी जो सभ्यता की जीवनदायिनी शक्ति बने। भारतीय संस्कृति में शिक्षा ने मनुष्य के शरीर, मन, प्राण और आत्मा के बीच अद्भुत समन्वय स्थापित किया। उसने कलात्मक, नैतिक और बौद्धिक जीवन को एक साथ विकसित किया और आंतरिक सत्ता को ऊँचाई, गहराई और व्यापकता प्रदान की।

किसी भी संस्कृति-दर्शन की वास्तविक शक्ति तभी प्रकट होती है जब वह

व्यक्ति और समाज के शारीरिक, आत्मिक तथा बौद्धिक विकास को संतुलित ढंग से पोषित करे। केवल विचार या आदर्श प्रस्तुत कर देने से संस्कृति समाज में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित नहीं हो सकती, बल्कि उसके लिए शिक्षा का सशक्त आधार आवश्यक होता है। शिक्षा ही वह माध्यम है जो व्यक्ति के भीतर संस्कारों का निर्माण करती है, उसे दूषित प्रवृत्तियों से बचाती है और उच्च चरित्र तथा नैतिक महानता की ओर अग्रसर करती है। भारतीय संस्कृति में चरित्र की दृढ़ता, मानवीय महानता और उदात्त भावनाओं को सर्वोच्च मूल्य के रूप में देखा गया है। यह मूल्य शिक्षा के द्वारा ही समाज में व्यापक हुए, जिनसे जन-जन को सत्य, करुणा, सहिष्णुता और परोपकार जैसे आदर्शों को आत्मसात करने की प्रेरणा मिली। वास्तव में, शिक्षा ने ही संस्कृति के गहरे भावों को प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचाकर समाज को ऊर्ध्वमुखी बनाया।

भारतीय दृष्टिकोण में राष्ट्रभावना, धर्म का आचरण और विश्वबंधुत्व की प्रेरणा—ये सभी वे अनिवार्य तत्व हैं जो सांस्कृतिक एक्य और राष्ट्रीय अस्मिता को जीवित रखते हैं। शिक्षा के अभाव में इन मूल्यों का समाज में स्थायी रहना संभव नहीं हो पाता। इसलिए संस्कृति-दर्शन ने शिक्षा को केवल ज्ञान का साधन नहीं माना, बल्कि उसे सांस्कृतिक वैभव और आध्यात्मिक उत्कर्ष की आधारशिला स्वीकार किया है।

भाषा किसी समाज का जीवन-रक्त है, क्योंकि वही माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने मनोभावों, विचारों और अनुभूतियों को व्यक्त करता है। दैनिक जीवन की प्रत्येक गतिविधि की अभिव्यक्ति भाषा के बिना संभव नहीं है। जिस प्रकार संस्कृति समाज के भीतर जन्म लेती है, पनपती है और विकसित होती है, उसी प्रकार समाज की सांस्कृतिक चेतना का आधार भी भाषा ही है। बिना भाषा के न तो संस्कृति का अस्तित्व संभव है और न ही उसका संरक्षण। इसलिए भाषा को संस्कृति की सत्ता का अनिवार्य अंग माना गया है।

भाषा किसी समाज की परम्पराओं का सबसे प्रभावी और सशक्त संवाहक है। परम्परा का संक्रमण और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसका प्रसार भाषा के माध्यम से ही होता है। जिस समाज की भाषा जितनी सशक्त, अभिव्यक्तिपूर्ण और सुसंस्कृत होगी, वही समाज कला, साहित्य और चिंतन के क्षेत्र में अधिक समृद्धि प्राप्त कर सकेगा। वेदों में 'देवस्य पश्य काव्यम्' वाक्य इस तथ्य की पुष्टि करता है कि भारतीय संस्कृति मूलतः वाक्-केंद्रित चिंतन पर आधारित है। प्राचीन भारतीय संस्कृति की विशेषता यह रही है कि उसमें केवल बौद्धिकता का ही नहीं, बल्कि गहन विश्लेषण, तर्कपूर्ण स्थापना और सिद्धांतों के वर्गीकरण की भी परंपरा रही है। भाषा इसी कारण केवल भावों की अभिव्यक्ति भर नहीं रह जाती, बल्कि आदेश, अनुरोध, संवाद, बहस, व्यंग्य, कथा और विचार-विनिमय का भी साधन बन जाती है।

संस्कृति और भाषा का इतना गहरा सम्बन्ध है कि भाषा का स्वरूप सदैव संस्कृति के अनुरूप ढलता है। उदाहरण के लिए, जिस संस्कृति में विनम्रता सर्वोपरि मूल्य है, वहां की भाषा में भी विनम्रता और सौजन्यपूर्ण अभिव्यक्तियाँ प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं, क्योंकि बिना उसके उस संस्कृति के लोगों का व्यवहार अधूरा प्रतीत होता है। इसीलिए भाषा को संस्कृति की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी कहा जाता है।

भारतीय चिंतन परम्परा में शब्द को केवल व्याकरणिक विषय न मानकर दर्शन, आध्यात्म और जीवन–दर्शन का भी विषय माना गया है। पाणिनि जैसे महान आचार्यों ने शब्द–दर्शन को इतना विकसित किया कि वह आगे चलकर अनेक दार्शनिक धाराओं की प्रेरणा बना। स्फोटवाद जैसे सिद्धांत इस परंपरा की ही उपज हैं, जो यह दर्शाते हैं कि भारतीय संस्कृति में भाषा और संस्कृति का संबंध केवल व्यवहारिक न होकर गहन दार्शनिक और आध्यात्मिक भी है।

भाषा संस्कृति दर्शन का मूल आधार है, क्योंकि इसके माध्यम से मनुष्य जगत को जानता है, परस्पर संवाद करता है और अपने विचारों व भावनाओं को व्यक्त करता है। भारतीय परम्परा में भाषा को केवल अभिव्यक्ति का साधन न मानकर दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से भी गहराई से विश्लेषित किया गया है। विद्वत्ता और चिंतन की प्रतिष्ठा भाषा के माध्यम से ही होती है, और शिक्षा व सामाजिक जीवन का केंद्र भी भाषा ही है।

ऋग्वेद (1/164/45) में भाषा की चार अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है— तीन गुप्त और एक प्रकट।

''चत्वारि वाक परिमिता पाउनितानि विदुब्रहिम्णा ये मनीषिण: ।
गुहा: त्रीणि निहिता नेगयन्ति तुरीयं वायो मनुष्या वदन्ति।''

मनुष्य केवल उसी चौथी, प्रकट वाणी का प्रयोग करता है, जबकि शेष तीन स्तर गहन सांस्कृतिक और दाशज़निक रहस्यों को धारण किए हुए हैं। इस प्रकार भाषा भारतीय संस्कृति में आत्मचिंतन और जीवन–दशज़्न का सेतु बनकर कार्य करती है।

भारतीय परम्परा में वाणी और भाषा को केवल संप्रेषण का साधन नहीं माना गया, बल्कि उसे मानव अस्तित्व की गहराई से जोड़ा गया है। वाणी के चार पाद — परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी मानव चेतना की विभिन्न अवस्थाओं को अभिव्यक्त करते हैं। भर्तृहरि के अनुसार ये चारों रूप वाणी के विविध आयामों का द्योतक हैं, जिनमें परा, पश्यन्ती और मध्यमा आन्तरिक स्तर पर गुप्त रहते हैं, जबकि वैखरी वाणी बाह्य रूप में ध्वनित होकर मनुष्य द्वारा बोली जाती है। पतंजलि और नागेश जैसे वैयाकरणों ने इन रूपों को भाषा के व्याकरणिक अंगों— नियम, आख्यात, उपसर्ग और निपात से भी जोड़ा है। ऋग्वेद (7/43/1) में स्पष्ट उल्लेख है कि वाणी के तीन रूप भीतर छिपे रहते हैं और चौथा बाहर आता है।

यह दृष्टिकोण केवल भाषिक न होकर दार्शनिक भी है। वैदिक काल से ही भाषा के स्वरूप पर गहन चिन्तन होता रहा है। यहाँ भाषा को सत्ता के मूल स्रोत से उद्धृत माना गया है। मनुष्य की आन्तरिक चेतना और सत्ता में परिवर्तन के साथ भाषा भी परिवतिज़्त होती रहती है। इसीलिए भाषा गतिमान है और संस्कृति की गति के साथ उसकी धारा भी बहती है।

संस्कृति के आचार–विचार, साहित्य, कला और सभ्यता के विविध रूप भाषा में प्रतिबिम्बित होते हैं। शब्द समय और समाज के साथ अपने रूप बदलते हुए अलग–अलग अर्थ और प्रयोजन को अभिव्यक्त करते हैं। सभ्यता के विस्तार और विकास के साथ भाषा का भी परिवार विस्तृत होता जाता है और उसकी अभिव्यक्तियों में गहराई और व्यापकता आती जाती है।

साहित्य और भाषा का संबंध अत्यन्त गहन और अविभाज्य है। किसी भी समाज की साहित्यिक सृजनात्मकता भाषा के माध्यम से ही सम्भव होती है। जितना प्राचीन मनुष्य है, भाषा भी उतनी ही प्राचीन है, और साहित्य भाषा के संस्कार और संवेगों का प्रतिफल है। साहित्य में भाषा का चयनित और संवेदनशील रूप प्रस्तुत होता है, जो उसकी सौन्दयाज़्त्मक, रचनात्मक और प्रभाविष्णु शक्ति को प्रकट करता है। यदि साहित्य न हो, तो किसी देश की संस्कृति, उसका इतिहास और सामाजिक जीवन का अनुभव करना असम्भव हो जाता है। साहित्य ही उस समाज की मानवीय भावनाओं, आचार–व्यवहार और विचारधारा को प्रत्यक्ष और अपरोक्ष रूप में अभिव्यक्त करता है।

संस्कृति दर्शन के दृष्टिकोण से भाषा का अध्ययन केवल संप्रेषण का साधन नहीं है, बल्कि यह समाज, सभ्यता और संस्कृति के मूल तत्वों को स्पष्ट करने का माध्यम है। भतृज़्हरि ने 'वाक्य पदीय' में कहा है कि भाषा की प्रक्रिया के मूल में ब्रह्म स्थित है। यही मूलबिंदु संस्कृति दर्शन के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना समाज का रचनात्मक और सांस्कृतिक विकास अधूरा रह जाता है। भाषा की यह दार्शनिक समझ भारतीय चिन्तन परम्परा की विशेषता है, जहां ब्रह्म और भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध समाज, संस्कृति और सभ्यता के प्रत्येक पहलू में देखा जाता है।

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने भाषा का विश्लेषण और उसके उद्गम को इतनी गहनता से किया कि आधुनिक पाश्चात्य भाषा विज्ञान भी इससे प्रभावित हुआ। ब्रिटानिका साइक्लोपीडिया में भी उल्लेख है कि चीनी और आसीरियन लोग अपनी भाषाओं का अध्ययन उस गहराई तक नहीं कर पाए जितनी भारतीय परम्परा में हुई। इस दृष्टि से देखा जाए तो भाषा केवल संवाद का साधन नहीं, बल्कि संस्कृति का दर्पण, समाज का आधार और साहित्य की आत्मा है।

संस्कृति दर्शन के संदर्भ में भाषा न केवल संवाद का साधन है, बल्कि समाज

और संस्कृति के मूल्यों का अभिव्यक्तिकरण भी है। भारत में भाषाएँ प्रायः क्षेत्रीय रूप से परिवर्तित होती रही हैं, और उनका यह परिवर्तन स्थानीय सांस्कृतिक मूल्यों तथा समय की आवश्यकताओं के अनुरूप होता है। श्री अरविन्द के अनुसार, यद्यपि लोकप्रिय बोलियाँ संस्कृति को प्रभावित करती हैं, फिर भी मूल संस्कृति उच्च वर्ग की भाषा में संरक्षित रहती है। यह भाषा उच्च आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक और सौन्दयज़्प्रिय आदर्शों का वाहक होती है, और समाज में धर्म, सामाजिक नियम, कला तथा नैतिक मूल्य के माध्यम से इसे जनसामान्य तक पहुँचाया जाता है।

संस्कृत भाषा इस दृष्टि से विशेष महत्व रखती है क्योंकि यह समाज में प्रतीकात्मक व्यवस्था और व्यक्तित्व के गहन भावों को व्यक्त करने का माध्यम बनी। प्राकृत, पाली और अन्य भाषाओं के उद्‌भव के बावजूद संस्कृत का प्रभुत्व बना रहा। भाषा के माध्यम से व्यक्ति न केवल बाह्य रूप में संवाद करता है, बल्कि अपने अन्तरमन के भावों और संस्कृति के मूल्यों को भी स्पष्ट करता है। भिन्न-भिन्न भाषाएँ, जैसे हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, फ्रेंच या चीनी, मूल भावों के सम्प्रेषण में भिन्न रूप में काम करती हैं, लेकिन उनका उद्देश्य समान है—संस्कृति और मूल्य को स्पष्ट करना।

भारतीय संदर्भ में भाषा को बाह्य रूप में नहीं, बल्कि व्यक्ति के आत्मिक और सांस्कृतिक अनुभव के माध्यम से आत्मनिष्ठ माना गया। यह भाषा संस्कृति दर्शन का केंद्र बनी, जो समाज के मूल भावों और कलात्मक अभिव्यक्तियों को संरक्षित करती है और व्यक्ति के मन और समाज में गहन प्रभाव डालती है।

बेन्जामिन ली विहोर के कथन के अनुसार भाषा केवल संवाद का साधन नहीं है, बल्कि यह वयक्तिक चेतना को संरचित और निदेज़्शित करने वाली प्रणाली भी है। व्यक्ति शब्दों का चयन करता है, परन्तु उसके प्रयोग और अर्थ पर भाषा के अविधानात्मक नियमों का प्रभाव स्वचालित रूप से लागू होता है। यह नियम व्यक्ति की चेतना के परे काम करते हैं, जिससे उसका भाषीय व्यवहार सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में संचालित होता है। विहोर यह संकेत देते हैं कि भाषा स्वयं एक व्यवस्थित प्रणाली है, जो मानव की मूलभूत क्रियाओं, उसके परिवेश और सांस्कृतिक अनुभवों के अनुरूप अपने स्वरूपों को प्रस्फुटित करती है।

इस संदर्भ में भाषा संस्कृति का वाहक बन जाती है। यह केवल शब्द या वाक्य नहीं बनाती, बल्कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रतीकों और मूल्य संरचनाओं को अभिव्यक्त करती है। यशदेव शल्य के अनुसार, भाषा एक प्रतीक संसाधन है जिसका वाहन ध्वनियाँ हैं और जिसका स्वरूप अविधानात्मक है। इसमें ध्वनि संरचना और अर्थ संस्थान के अनिवार्य नियम समाहित हैं। इसी अविधानिक स्वरूप के कारण भाषा संस्कृति के संवहन और प्रसार में निर्णायक भूमिका निभाती है।

संस्कृति और भाषा का यह गहन संबंध दर्शाता है कि भाषा न केवल विचारों और भावनाओं का माध्यम है, बल्कि यह समाज की सांस्कृतिक संरचना, मूल्य प्रणाली और सांकेतिक रूपों का भी निर्माण और संरक्षण करती है। भाषा के माध्यम से संस्कृति अपने स्वरूप, परंपराएँ और मूल्य व्यक्ति के मन में स्थापित होते हैं और इन्हें दूसरों तक पहुंचाने का साधन बनती है। इस दृष्टि से भाषा और संस्कृति का सम्बंध अविच्छेद्य है और यह मानव समाज के विकास और सांस्कृतिक निरंतरता के लिए अनिवार्य है।

किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक पहचान, उसका ज्ञान, मूल्य प्रणाली और सामाजिक संरचना भाषा के माध्यम से ही स्थापित होती है। भाषा के बिना किसी भी समाज की परंपराओं, आचार्यों और धार्मिक मूल्यों का संचरण असंभव है। यह न केवल अनुभवों और भावनाओं को व्यक्त करती है, बल्कि समय और स्थान के अनुरूप उन्हें संरचित और निरंतर विकसित भी करती है।

भाषा का बहुरूपीय व्यक्तित्व इसे अन्य प्रतीक साधनों से अलग बनाता है। यह केवल बोलचाल, लिखावट या साहित्य तक सीमित नहीं रहती, बल्कि व्यक्ति के विचार, मनोभाव और अनुभवों को समाज के अन्य सदस्यों तक पहुँचाने का कार्य करती है। भाषा के माध्यम से ही सांस्कृतिक ज्ञान, नैतिक मूल्य, धार्मिक आस्थाएँ और समाजिक व्यवहार पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते हैं। उदाहरण के लिए, संस्कृत और प्राचीन भारतीय भाषाओं में शब्दों का चयन केवल अर्थ व्यक्त करने के लिए नहीं था, बल्कि वह संस्कृति के सूक्ष्म भाव, आध्यात्मिक चेतना और बौद्धिक परंपरा को भी व्यक्त करता था।

रामधारीसिंह दिनकर की कविता–

''जो त्रिकाल कुंजित संगम है वह जीवन क्षण हो,
मन मन मिलते देवता वह विशाल मन दो,
देख सकें सबमें अपने को महामनुजता के सपने दो
हे प्राचीन नवीन मनुष्य में वह सुविलोचन दो।''

इस तथ्य को सुंदर रूप में प्रस्तुत करती है कि भाषा मानव की समग्र चेतना और अनुभव का माध्यम है। भाषा के माध्यम से न केवल व्यक्ति अपने भावों और विचारों को स्पष्ट करता है, बल्कि वह अपने समाज, अपने राष्ट्र और अपनी संस्कृति के साथ गहन संबंध स्थापित करता है। इसे केवल साधन नहीं, बल्कि संस्कृति के संवाहक, विचारों के संरक्षक और समाज की समग्र पहचान का आधार कहा जा सकता है।

इस प्रकार, भाषा समाज और संस्कृति की धारा को निरंतर प्रवाहित करती है, उसे सुसंगठित रूप देती है और मानव जीवन में उसकी गहनता और विशालता को प्रतिपादित करती है। संस्कृति दर्शन के दृष्टिकोण से भाषा वह माध्यम है जो ज्ञान, मूल्यों

और अनुभवों को केवल व्यक्त नहीं करता, बल्कि उन्हें समाज में स्थायी रूप से संरक्षित और प्रसारित भी करता है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में भाषा को केवल संचार का साधन नहीं, बल्कि संस्कृति और सभ्यता का प्रमुख आधार माना गया है।

दिनकर ने यह स्वीकार किया कि मानवता का उद्देश्य केवल भौतिक या व्यक्तिगत उपलब्धियाँ नहीं हैं, बल्कि व्यक्ति के क्रियाकलाप और उनके माध्यम से समाज में उत्पन्न होने वाले संस्कृतिक संदेश ही सच्ची पहचान देते हैं। भाषा के माध्यम से व्यक्ति अपने क्रियाकलाप, भावनाएँ और सोच को व्यक्त करता है, और यही अभिव्यक्ति संस्कृति दर्शन का मूल आधार बनती है।

भारतीय मनीषा ने भाषा और व्याकरण को केवल नियमों का संग्रह नहीं माना, बल्कि उसे परम सत्ता के साक्षात्कार और चेतना-अचेतन के समन्वय का माध्यम बनाया। यही कारण है कि भारतीय भाषाओं में आध्यात्मिकता और सांस्कृतिक मूल्यों का समावेश स्वाभाविक रूप से मिलता है। भारतीय संस्कृति में व्यक्ति का अभिप्राय, सामाजिक संबंध और व्यवहार भाषा के स्वरूपों में स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए, संस्कृत में 'वह', 'तुम' और 'स्वयं' के क्रम में व्यक्तित्व और सम्मान का क्रम निर्धारित है, जबकि अंग्रेजी में 'I', 'you', 'he/she' के क्रम में व्यक्तित्व की प्राथमिकता अलग होती है। यह अंतर न केवल भाषा में, बल्कि दोनों संस्कृतियों के मूल्यों और दृष्टिकोण में भी परिलक्षित होता है।

श्री अरविन्द के अनुसार, भारत में सदा आध्यात्मिक आंदोलन ही सृजन का मूल स्रोत रहा है। आध्यात्मिक चेतना ने न केवल नए विचारों और रचनात्मक संभावनाओं को जन्म दिया, बल्कि सामाजिक और जातीय जीवन में परिवर्तनों का मार्ग प्रशस्त किया। भाषा इस प्रक्रिया में केंद्रीय भूमिका निभाती है, क्योंकि यह संस्कृति के सूक्ष्मतम तत्वों, मूल्यों और जीवन दृष्टियों को अभिव्यक्त करती है और उन्हें समाज में संरक्षित रखती है।

इस प्रकार, भारतीय संस्कृति दर्शन में भाषा और संस्कृति का सम्बन्ध अविभाज्य है। भाषा न केवल संस्कृति का वाहक है, बल्कि यह उसकी संवाहक धारा भी है जो व्यक्तियों और समाज को जोड़ती है, सामाजिक मूल्यों का संचार करती है और मानव चेतना के सर्वोच्च स्तर तक संस्कृति का संदेश पहुँचाती है। भारतीय संदर्भ में यह स्पष्ट है कि भाषा ही संस्कृति के स्वरूप और उसके उदात्त मूल्यों को भली प्रकार स्पष्ट करती है।

❑❑❑